ॐ नमः शिवाय

श्रीभगवत्पादशङ्कराचार्यप्रणीतः

तत्त्वबोधः

भाषानुवादकः—

महामण्डलेश्वर श्रीमत्स्वामी विद्यानन्दगिरिजी महाराजः

वासुदेवेन्द्रयोगीन्द्रं नत्वा ज्ञानप्रदं गुरुम् ।
मुमुक्षूणां हितार्थाय तत्त्वबोधोऽभिधीयते ।।

ज्ञानदाता वासुदेव योगीन्द्र गुरु को प्रणाम कर मुमुक्षुओं के कल्याणार्थ तत्त्वबोध लिखा जाता है ।।१।।

सबके हृदय में निवास करने वाले देव को वसुदेव कहते हैं। वसुदेव को ही वासुदेव कहते हैं। सर्वनियन्ता परमात्मा ही गुरु हैं जो अधिकारी शिष्यों को ज्ञान देते हैं। वे विश्वनियन्ता परमात्मा ही गोविन्द भगवत्पाद रूपसे प्रकट हो योगीन्द्र कहलाये। ऐसे ज्ञानप्रदाता ब्रह्मस्वरूप गोविन्द भगवत्पाद सद्गुरुदेव को प्रणाम कर मुमुक्षुओं के कल्याणार्थ तत्त्वबोध नामक अतिसंक्षिप्त प्रकरण ग्रन्थ को बना रहे हैं ॥१॥

साधनचतुष्टयसम्पन्नाधिकारिणां मोक्षसाधनाङ्गभूतं तत्त्वविवेकप्रकारं वक्ष्यामः ।

साधनचतुष्टयसम्पन्न अधिकारियों के लिये मोक्ष के साधनरूप तत्त्वविवेक प्रकार को हम कहेंगे ।।२।।

विवेक, वैराग्य, शमदमादि षट्सम्पत्ति तथा मुमुक्षुता इन चार साधनों को मूल ग्रन्थ में ही ग्रन्थकार स्वयं बतलायेंगे। ऐसा साधनचतुष्टयसम्पन्न मुमुक्षु इस ग्रन्थ का अधिकारी है और इसका प्रयोजन मोक्ष है। मोक्ष का ऐकान्तिक साधन तत्त्वबोध है। ऐसे तत्त्वबोध की प्रक्रिया को संक्षेप तथा सरल भाषा में आचार्य बतलाने की प्रतिज्ञा इस वाक्य से कर रहे हैं ॥२॥

साधनचतुष्टयं किम् ? नित्यानित्यवस्तुविवेकः, इहामुत्रार्थफलभोगविरागः, शमादिषट्कसम्पत्तिः, मुमुक्षुत्वं चेति ।

चार साधन क्या हैं ? नित्यानित्यवस्तुविवेक, इस लोक और परलोक के समस्त पदार्थ तथा फलभोग के प्रति वैराग्य, शमदमादि षट्सम्पत्ति तथा मुमुक्षुता; बस यही चार साधन हैं जो वेदान्त के अधिकारी में अवश्य होने ही चाहिये ।।३।।

नित्यानित्यवस्तुविवेकः कः ? नित्यं वस्त्वेकं ब्रह्म, तद्व्यतिरिक्तं सर्वमनित्यमयमेव नित्यानित्यवस्तुविवेकः ।

नित्यानित्यवस्तुविवेक क्या है ? एक ब्रह्म ही केवल नित्य वस्तु है; उससे भिन्न सम्पूर्ण विश्व अनित्य है; बस यही नित्यानित्यवस्तुविवेक है ।।४।।

"ध्वंसभिन्नत्वे सति ध्वंसाप्रतियोगित्वं नित्यत्वं" जिसका कभी ध्वंस नहीं होता और जो स्वयं ध्वंसरूप भी न हो, इसे नैयायिकों ने नित्य कहा है। ध्वंस अभाव का अवान्तरभेदरूप है जो उत्पन्न तो होता है किन्तु नष्ट नहीं होता। इसीलिये वह ध्वंस ध्वंस का अप्रतियोगी है। किन्तु वह ध्वंस उत्पन्न होता है. अतः नित्य नहीं है। तात्पर्य यह है कि जिसकी उत्पत्ति और नाश न हो; उसे नित्य कहते हैं। ऐसा पदार्थ केवल ब्रह्म ही है। ब्रह्म से भिन्न माया अनादि तो है किन्तु उसका तत्त्वज्ञान से नाश हो जाता है। माया के परिणाम भूत तथा भौतिक पिण्ड ब्रह्माण्ड सभी उत्पत्ति विनाशशील है। इसीलिये उनमें नित्यत्व सर्वथा नहीं है। चाहे कोई लोक चिरस्थायी क्यों न हो, किन्तु उत्पन्न होने के कारण उसका नाश अवश्यम्भावी है। इस प्रकार नित्य ब्रह्म है और उससे भिन्न माया तथा तत्प्रयुक्त भूत-भौतिक प्रपञ्च एवं औपाधिक जीव-ईश भाव सभी अनित्य हैं। बस इसी ज्ञान को नित्यानित्यवस्तु-विवेक कहते हैं ॥४॥

इहामुत्रार्थफलभोगविरागः कः ? इह स्रक्चन्दन-वनितादिषु अमुत्र स्वर्गभोगेष्विच्छाराहित्यमेव ।

इहामुत्रार्थफलभोगविराग क्या है ? इस लोक में माला, चन्दन, वनिता से लेकर समस्त स्वर्गादि लोकों के भोगों में इच्छा-राहित्य का नाम ही वैराग्य है ॥५॥

इस लोक तथा परलोक के समस्त भोगों में दोषदर्शन वैराग्य का हेतु है। इन भोगों को त्यागने की इच्छा वैराग्य का स्वरूप है और इनके लिये दीनता सर्वथा मिट जाये; यही वैराग्य की चरम सीमा है। शास्त्रों में ब्रह्म से भिन्न सभी पदार्थों को नश्वर कहा है तथा उनसे प्राप्त होने वाले सुख को

विषाक्त अन्न के समान त्याज्य बतलाया है, क्योंकि वैषयिक सुख का अन्तिम परिणाम दुःख ही होता है। स्वर्गादि लोकों के दिव्य भोगों को चिरकाल तक भोगने के बाद भी शूकर-कूकर आदि योनियों में जन्म लेना पड़ता है—ऐसा शास्त्र में कहा है। इस प्रकार इस लोक और परलोक के समस्त भोगों में नश्वरत्व तथा दुःखरूपता के चिन्तन से वैराग्य हो ही जाता है। वैराग्य का मतलब होता है, आसक्ति का अभाव। इससे समस्त भोगों से मुख मोड़ना साधक के लिये सरल हो जाता है। एक बार मन से इनको त्याग देने पर पुनः इनके भोगने की इच्छा वैसे ही नहीं होती, जैसे वमन किये हुए पदार्थ को पुनः खाने की इच्छा नहीं होती। बस यही वैराग्य का स्वरूप है। जिन भोगों के अभाव में अपना जीवन अपूर्ण समझता था, अब उन धन-पुत्र-पौत्र-परिवार की प्राप्ति के लिये स्वप्न में भी संकल्प उत्पन्न नहीं होता। बस यही वैराग्य की चरम सीमा है। ऐसे वैराग्य के बिना ब्रह्मविचार व्यर्थ होता है। इसीलिये ब्रह्मजिज्ञासु में वैराग्य का होना अनिवार्य है ॥५॥

शमादिषट्कसम्पत्तिः का ? शमो दम उपरति-स्तितिक्षा श्रद्धा समाधानं चेति ।

शमादिषट्कसम्पत्ति क्या है ? शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान—यही शमादिषट्कसम्पत्ति है ॥६॥

शमः कः ? अन्तरिन्द्रियनिग्रहः ।

दमः कः ? बाह्येन्द्रियनिग्रहः ।

उपरतिः का ? प्रपञ्चेभ्य उपरमणम् ।

तितिक्षा का ? शीतोष्णादिद्वन्द्वसहिष्णुत्वम् ।

श्रद्धा का ? गुरुवेदान्तवाक्येषु विश्वासः ।

समाधानं किम् ? चित्तैकाग्रता ।

शम क्या है ? अन्तरिन्द्रिय (मनो) निग्रह शम है । दम क्या है ? चक्षुरादि बाह्य इन्द्रियों का निग्रह । उपरति क्या है ? अपने धर्म का अनुष्ठान ही उपरति है । तितिक्षा क्या है ? शीत, उष्ण, सुख-दुःखादि की सहनशीलता । श्रद्धा क्या है ? गुरु तथा वेदान्त वाक्यों में विश्वास श्रद्धा है । समाधान क्या है ? चित्त की एकाग्रता को समाधान कहते हैं ॥७॥

कोई भी साधक सर्वथा विषयों का परित्याग कर जीवित नहीं रह सकता ? ऐसी स्थिति में मनोनिग्रह का सामान्य अर्थ जो आपाततः प्रतीत होता है कि विषयों की ओर मन को न जाने देना शम है । यह कैसे सम्भव हो सकता है । आखिर वेदान्तश्रवण के लिये मन में लालसा भी तो मनोनिग्रह के विरुद्ध ही हो जायेगी । अतः इस पर थोड़ा विचार करना आवश्यक हो जाता है । अनादि काल से पूर्वानुभूत वासना के कारण भोग की लालसा उत्पन्न होती है और उससे प्रेरित हो मन सांसारिक विषयों की ओर स्वतन्त्रतापूर्वक भागता है, जो आत्मसाधना के विरुद्ध है । पिछले बतलाये गये वैराग्य के फलस्वरूप इस मुमुक्षु की दृष्टि में संसार के किसी भी पदार्थ में सुख बुद्धि नहीं रह गयी है । अब तो अध्यात्म साधना के अनुकूल शब्दादि विषयों का ही चिन्तन करता है और अध्यात्म साधना के विरुद्ध विषयों की ओर से मन को रोकता है । मन की स्वतन्त्रता में मानो बेड़ी डाल रखी है । इस प्रकार का मनोनिग्रह साधक में सम्भव है ।

नेत्रादि बाह्य इन्द्रियों को अपनी आत्मसाधना के विरुद्ध विषयों की ओर न जाने देना दम कहलाता है । सर्वथा विषयों की ओर से मनको रोकना सम्भव नहीं है, क्योंकि साथ ही ऐसी स्थिति में श्रवण भी सम्भव नहीं । अतः वेदान्त साधना के अनुकूल विषयों में तत्परता से लगना और उनके विरुद्ध विषयों से इन्द्रियों को रोकना ही दम है ।

किसी भी वर्ण या आश्रम में रहने वाले साधक को निषिद्ध आचरण का स्वरूपतः त्याग करना ही पड़ता है जिस प्रकार निषिद्ध कर्म त्याज्य है, उसी प्रकार परधर्म का अनुष्ठान भी त्याज्य ही है । अतः निषिद्ध एवं परधर्म के परित्याग पूर्वक स्वधर्म अनुष्ठान को उपरति कहा गया है । स्वधर्मानुष्ठान का दूसरा अर्थ यह भी है—कल्याणकामी साधक ने आचार्य की आज्ञा से आत्मकल्याण के लिये साधन रूप में जिस धर्म को स्वीकार किया है, उस व्रत-नियम में तत्परता के साथ लगने से तद्विरुद्ध आचरण का परित्याग सुतरां सिद्ध हो जाता है ।

शीतोष्ण-सुख-दुःखादि समस्त द्वन्द्वों का उपलक्षण है । साधक को प्रारब्धवेग से आये हुए सम्पूर्ण अनुकूल तथा प्रतिकूल परिस्थितियों को भगवत्प्रसाद या प्रारब्ध का पुरस्कार समझ कर सहना चाहिये । इनमें उद्विग्न नहीं होना चाहिये । इसी का नाम तितिक्षा है ।

ब्रह्मविद्या के उपदेशक आचार्य, वेदान्त शास्त्र तथा परमेश्वर के प्रति सत्कारपूर्वक विश्वास को श्रद्धा कहते हैं । यों तो विश्वास बैंक मैनेजर के हस्ताक्षरों पर भी लोग करते ही हैं । इसीलिये तो गाढी कमाई के लाखों रुपये बैंक मैनेजर के हाथों में देकर वहाँ से एक फिक्स डिपोजिट रसीद लेकर सहर्ष घर

लौटते हैं। फिर भी बैंक मैनेजर या उनके कर्मचारी के प्रति उनके मन में आदर भाव नहीं है। इसीलिये पीठ पीछे उन्हें त्वंकार शब्द से भी सम्बोधित करते हैं। इसके विपरीत गुरु, वेदान्त तथा परमेश्वर के प्रति सत्कारबुद्धि तथा विश्वास भी है। अतः सत्कारबुद्धि पूर्वक विश्वास को श्रद्धा कहते हैं।

अपने लक्ष्य एवं लक्ष्यप्राप्ति के साधनों में चित्त की एकाग्रता को समाधान कहते हैं। इन छः साधनों को शमादि-षट्कसम्पत्ति नाम से कहा गया है ॥७॥

मुमुक्षुत्वं किम् ? मोक्षो मे भूयादिति दृढेच्छा।

मुमुक्षुता क्या है ? मुझे मोक्ष प्राप्त हो, ऐसी दृढ़ इच्छा को मुमुक्षुता कहते हैं ॥८॥

किसी व्यक्ति को जल में जोर से दबोच डालने पर उसके पञ्जे से छूट कर श्वास लेने की तीव्र इच्छा जैसे उस व्यक्ति को होती है; वैसे ही माया तथा माया के सम्पूर्ण कार्यों से छूटने की उत्कट अभिलाषा को मुमुक्षा कहते हैं तथा किसी व्यक्ति के सिर के बालों में माचिस लगा देने पर उस आग को बुझाने की जैसी तड़फन उसके मन में होती है, ऐसे ही संसाराग्नि में अपने को झुलसता देख इससे मुक्त होने की तीव्र आकांक्षा को मुमुक्षुता कहते हैं ॥८॥

एतत्साधनचतुष्टयसम्पन्नास्तत्त्वविवेकस्याधिकारिणो भवन्ति।

तत्त्वविवेकः कः ? आत्मासत्यस्तदन्यत् सर्वं मिथ्येति ज्ञानमेव।

उक्त चारों साधनों को साधनचतुष्टय कहते हैं। साधनचतुष्टय से युक्त होने के बाद ही तत्त्वविवेक का अधिकारी होता है। पर वह तत्त्वविवेक है क्या ? आत्मा सत्य है और उससे भिन्न सम्पूर्ण विश्व मिथ्या है; इसी ज्ञान को तत्त्वविवेक कहते हैं ॥९॥

साधनचतुष्टय के अन्तर्गत नित्यानित्यवस्तुविवेक बतलाया गया है और यहाँ पर सत्यानृत विवेक को तत्त्वविवेक कहा गया है। इन दोनों में आपाततः समानता प्रतीत होती है। किन्तु विचार करने पर भेद सिद्ध होता है। अद्वैतवेदान्तियों को छोड़कर सभी दार्शनिकों ने संसार को अनित्य तो कहा है किन्तु मिथ्या नहीं कहा है। अनित्य वस्तु के नष्ट हो जाने पर उसका ध्वंसावशेष वहाँ पर पड़ा रहता है। जैसे सर्प के मर जाने पर उसकी लाश पड़ी रह जाती है और उससे दुर्गन्धि आती रहती है किन्तु रज्जु में कल्पित सर्प के रज्जुज्ञान से बाध होने पर उस कल्पित सर्प की लाश वहाँ नहीं दीखती और न उससे दुर्गन्धि ही आती है क्योंकि उसका अस्तित्व केवल कल्पना पर आधारित था और वह कल्पना अधिष्ठान रज्जु के न जानने के कारण हो रही थी। अधिष्ठान रज्जु के ज्ञान होते ही अज्ञान नष्ट हो जाता है फिर वहाँ सर्प की कल्पना नहीं होती और न उससे भयकम्पादि होते हैं। अतः 'अधिष्ठान के ज्ञान के बाधित हो जाने वाली कल्पित वस्तु को मिथ्या कहते हैं'। वह मिथ्यात्व निश्चय अधिष्ठानतत्त्वसाक्षात्कार के बिना नहीं हो सकता किन्तु वस्तु की अनित्यता का ज्ञान किसी के नित्यत्व ज्ञानसापेक्ष नहीं है। कार्य जगत् को नष्ट होते हम देखते हैं; वैसे ही स्वर्गादि के नश्वरत्व को शास्त्रों में सुनते हैं। अतः इनके अनित्यत्व का निश्चय इनसे भिन्न किसी वस्तु के नित्यत्व निश्चय

के अधीन नहीं है। किन्तु मिथ्यात्व निश्चय के लिये किसी सत्य अधिष्ठान वस्तु का ज्ञान होना आवश्यक है। इसीलिये ग्रन्थकार ने नित्यानित्य वस्तुविवेक से भिन्न सत्य और मिथ्या के विवेक को 'तत्त्व विवेक' शब्द से कहा। जो तीनों काल में बाधित न होता हो, उसे सत्य कहते हैं और बाधित हो जाने पर वस्तु को मिथ्या कहते हैं। अतः आत्मा सत्य है क्योंकि उसका कभी बाध नहीं होता और आत्मज्ञान से सम्पूर्ण विश्व का बाध हो जाने से सम्पूर्ण विश्व मिथ्या है। यदि आत्मा का भी बाध माना जावे तो फिर इसका अधिष्ठान कौन होगा क्योंकि अधिष्ठान के बिना कोई भी भ्रम हो नहीं सकता। शून्य को अधिष्ठान मानना अविवेक का परिचय देना है क्योंकि जो शून्य वस्तु ही नहीं वह किसी दूसरी कल्पना का अधिष्ठान कैसे हो सकता है, फिर बाध का साक्षी भी कौन होगा ? अतः तीनों काल में बाधित न होने वाला आत्मा ही सत्य है।

कुछ लोग अर्थक्रियाकारी को सत्य कहते हैं। इसीलिये व्यावहारिक जगत् में अर्थक्रियाकारिता को देखते हुए इसे मिथ्या मानने का साहस नहीं करते हैं। उनकी धारणा है कि अन्न, जल एवं वस्त्रादि से क्षुधा-पिपासादि प्रयोजन सिद्ध हो रहा है, फिर तो इन्हें सत्य मानना ही उचित है। पर इन वस्तुओं में सत्यत्व के आग्रह करने वालों से पूछा जाय कि आखिर स्वप्नावस्था में स्वप्न के पदार्थों से भी सुख-दुःख प्रयोजन सिद्ध होता ही है, फिर उन्हें मिथ्या क्यों कहते हो ? इसीलिये कि जगने पर न स्वप्न के पदार्थ दीखते हैं और न उनसे सुख-दुःख ही होते हैं। ठीक इसी प्रकार जाग्रत् के स्त्री-अन्न-पानादि से भी जाग्रत् अवस्था में ही प्रयोजन सिद्ध होता है, स्वप्न या सुषुप्ति में नहीं होता। अतः यह भी मिथ्या है ॥९॥

आत्मा कः ? स्थूलसूक्ष्मकारणशरीराद्व्यतिरिक्तो-ऽवस्थात्रयसाक्षी पञ्चकोशातीतः सच्चिदानन्दस्वरूपो यस्तिष्ठति स आत्मा।

आत्मा क्या है ? स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीर से भिन्न पञ्चकोशातीत अवस्थात्रय का साक्षी होकर जो रहता है; वही आत्मा है ॥१०॥

स्थूलशरीरं किम् ? पञ्चीकृतपञ्चमहाभूतैः कृतं सत् कर्मजन्यं सुखदुःखभोगायतनमस्ति, जायते, वर्धते, विपरिणमतेऽपक्षीयते, विनश्यतीति षड्भावविकारैर्युक्तं यत् तत् स्थूलशरीरम्।

स्थूल शरीर क्या है ? पञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों का बना हुआ कर्मजन्य सुख-दुःखादि के आयतन को स्थूल शरीर कहते हैं। स्थूल शरीर है, उत्पन्न होता है, बढ़ता है, रूपान्तर को प्राप्त होता है, घटता है और नष्ट हो जाता है; ऐसे छः विकार वाला स्थूल शरीर है ॥११॥

स्थूल शरीर का उपादान कारण पञ्चीकृत पञ्चमहाभूत हैं तथा निमित्त कारण शुभाशुभ कर्म हैं। ब्रह्म इनका विवर्ती उपादान कारण है क्योंकि सृष्टि काल में वह पूर्ववत् एक रस ही रहता है। उत्पन्न होने वाले पदार्थ में छः विकार होते ही हैं, जो स्थूल शरीर में स्पष्ट उपलब्ध होते हैं। प्राणीमात्र के स्थूलशरीर का निर्माण सुख-दुःखादि भोग के लिये ही होता है। केवल मनुष्य शरीर से ही नूतन कर्म तथा भोग होते हैं।

इसीलिये स्थूल शरीर को सुख-दुःखादि भोगों का आश्रय कहा गया है क्योंकि इसके बिना भोग हो ही नहीं सकता ॥११॥

सूक्ष्मशरीरं किम् ? अपञ्चीकृतपञ्चमहाभूतैः कृतं सत् कर्मजन्यसुखादिभोगसाधनं ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्च, कर्मेन्द्रियाणि पञ्च, प्राणादयः पञ्च, मनश्चैकं बुद्धिरेका-एवं सप्तदशकलाभिः सह तिष्ठति यत् तत् सूक्ष्मशरीरम् ।

सूक्ष्म शरीर क्या है ? अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों से बना हुआ कर्मजन्य सुख-दुःखादि भोगों के साधन पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्च कर्मेन्द्रियाँ, पञ्च प्राण, एक मन और एक बुद्धि; ऐसे सत्रह कलाओं के सहित जो रहता है वह सूक्ष्म शरीर है ॥१२॥

पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि कानि ? श्रोत्रं, त्वक्, चक्षुः, रसना, घ्राणमिति पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि, श्रोत्रस्य दिग्देवता, त्वचो वायुः, चक्षुषः सूर्यः, रसनाया वरुणः, घ्राणस्याश्विनाविति ज्ञानेन्द्रियदेवताः । श्रोत्रस्य विषयः शब्दग्रहणम्, त्वचो विषयः स्पर्शग्रहणम्, चक्षुषो विषयो रूपग्रहणम्, रसनाया विषयो रसग्रहणम्, घ्राणस्य विषयो गन्धग्रहणमिति ।

श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिका; ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। श्रोत्र का देवता दिशा है, त्वचा का वायु, नेत्र का सूर्य, जिह्वा का वरुण, घ्राण का अश्विनीकुमार—ऐसे ज्ञानेन्द्रियों के देवता हैं । श्रोत्र का विषय शब्दग्रहण, त्वचा

का विषय स्पर्शग्रहण, नेत्र का विषय रूपग्रहण, जिह्वा का विषय रसग्रहण तथा नासिका का विषय गन्धग्रहण है ॥१३॥

अध्यात्म इन्द्रियाँ	अधिभूत विषय	अधिदैव देवता
श्रोत्र	शब्द	दिशा
त्वचा	स्पर्श	वायु
नेत्र	रूप	सूर्य
जिह्वा	रस	वरुण
नासिका	गन्ध	अश्विनीकुमार

कर्मेन्द्रियाणि कानि ? वाक्-पाणि-पाद-पायूपस्थानीति पञ्चकर्मेन्द्रियाणि । वाचो देवता वह्निः, हस्तयोरिन्द्रः, पादयोर्विष्णुः, पायोर्मृत्युः, उपस्थस्य प्रजापतिरिति पञ्चकर्मेन्द्रियदेवताः । वाचो विषयो भाषणम्, पाण्योर्विषयो वस्तुग्रहणम्, पादयोर्विषयो गमनम्, पायोर्विषयो मलत्यागः, उपस्थस्य विषय आनन्द इति ।

वाणी, हाथ, पाद, उपस्थ तथा गुदा यह पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं । वाणी का देवता अग्नि, हाथ का देवता इन्द्र, पैर का देवता विष्णु, उपस्थ का देवता प्रजापति, गुदा का देवता मृत्यु है । वाणी का विषय भाषण, हाथ का विषय वस्तुग्रहण, पैर का विषय गमन, उपस्थ का विषय आनन्द तथा गुदा का विषय मलत्याग है ॥१४॥

अध्यात्म इन्द्रियाँ	अधिभूत विषय	अधिदैव देवता
वाणी	भाषण	अग्नि
हाथ	ग्रहण	इन्द्र
पाद	गमन	विष्णु
उपस्थ	आनन्द	प्रजापति
गुदा	मलत्याग	मृत्यु

कारणशरीरं किम् ? अनिर्वाच्यानाद्यविद्यारूपं शरीरद्वयस्य कारणभूतं सत् स्वस्वरूपाज्ञानं यदस्ति तत् कारणशरीरम् ।

कारण शरीर क्या है ? अनिर्वचनीय अनादि अविद्या रूप दोनों शरीरों का कारण होता हुआ स्वरूप का अज्ञान निर्विकल्प रूप जो है, वह कारण शरीर है ॥१५॥

जो सत्, असत् और उभय रूप से निर्वचन न किया जाय, उसे अनिर्वचनीय कहते हैं। अज्ञानदशा में ब्रह्मस्वरूप आत्मा के ऊपर आवरण करने वाला अज्ञान अज्ञानियों को स्पष्ट भासता है। इसीलिये बन्ध्यापुत्र की भाँति इसे असत् नहीं कह सकते। ब्रह्मज्ञान होते ही यह अज्ञान सदा के लिये नष्ट हो जाता है। अतः इसे सत् नहीं कह सकते हैं। विरोधी होने के कारण सत् और असत् उभयरूप तो कह ही नहीं सकते किन्तु तीनों कोटि से विलक्षण होने के कारण यह अनिर्वचनीयरूप है। उत्पत्तिरहित होने के कारण यह अज्ञान अनादि है। स्थूल एवं सूक्ष्म दोनों शरीरों का यह कारण है। क्योंकि जब तक यह अज्ञान रहेगा तब तक दोनों शरीर यथा समय उत्पन्न होते रहेंगे। स्वरूप का आवरक स्वयं नामरूपादि कल्पना से

रहित भावरूप है जो तत्त्वज्ञान से नष्ट हो जाता है। बस यही कारणशरीर है ॥१५॥

अवस्थात्रयं किम् ? जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तयस्तिस्रोऽवस्थाः । जाग्रदवस्था का ? श्रोत्रादिज्ञानेन्द्रियैः शब्दादिविषयो ज्ञायते इति यत् तत् जाग्रदवस्था । स्थूलशरीररैतदवस्थाभिमान्यात्मा विश्व इत्युच्यते ।

तीन अवस्थाएँ क्या हैं ? जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति; यह तीन अवस्थाएँ हैं। श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा शब्दादि विषय जिस अवस्था में जाने जाते हैं; यही जाग्रत् अवस्था है। इस जाग्रत् अवस्था में स्थूलशरीराभिमानी आत्मा 'विश्व' कहा जाता है ॥१६॥

स्वप्नावस्था का ? जाग्रदवस्थायां यद्दृष्टं यच्छ्रुतं तज्जनितवासनया निद्रासमये या प्रपञ्चप्रतीतिः सा स्वप्नावस्था । सूक्ष्मशरीरस्वप्नावस्थाभिमान्यात्मा तैजस इत्युच्यते ।

स्वप्न अवस्था क्या है ? ऐसा यदि पूछो, तो जाग्रत् अवस्था में जो देखे गये और जो सुने गये तज्जनित वासना से निद्रा के समय जो प्रपञ्च प्रतीत होता है, वही स्वप्नावस्था है। इस अवस्था में सूक्ष्मशरीराभिमानी आत्मा 'तैजस' नाम से कहा जाता है ॥१७॥

सुषुप्त्यवस्था का ? अहं किमपि न जानामि सुखेन मया निद्रानुभूयते इति यत् तत् सुषुप्त्यवस्था ।

एतदवस्थाकारणशरीराभिमान्यात्मा प्राज्ञ इत्युच्यते ।

सुषुप्ति अवस्था क्या है ? 'मैं कौन हूँ ? इतना भी नहीं जानता हूँ', ऐसा सुखपूर्वक निद्रा का अनुभव जहाँ होता है वही सुषुप्तावस्था है । इस अवस्था में कारणशरीराभिमानी आत्मा को 'प्राज्ञ' कहा जाता है ॥१८॥

पञ्चकोशाः के ? अन्नमयः प्राणमयो मनोमयो विज्ञानमय आनन्दमयश्चेति ।

पञ्चकोश क्या है ? अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय ये पञ्चकोश हैं ॥१९॥

अन्नमयः कः ? अन्नरसेनैव भूत्वान्नरसेनैवाभिवृद्धिं सम्प्राप्यान्नरूपपृथिव्यां यद्विलीयते सोऽन्नमयः कोशः ।

अन्नमयकोश क्या है ? अन्न के रस से ही उत्पन्न होकर अन्नरस से ही वृद्धि को प्राप्त हो कर जो अन्नरूप पृथ्वी में विलीन हो जाता है, वह स्थूलशरीर अन्नमयकोश है ॥२०॥

अन्नमयकोश स्थूलशरीर आत्मा नहीं हो सकता है । क्योंकि यह प्रत्यक्ष ही उत्पत्ति-विनाशशील तथा विकारी प्रतीत होता है । यदि अन्नमयकोश को आत्मा माना जाये, तब यह जन्म से पहले नहीं था और मरण के बाद भी नहीं रहेगा । केवल जन्म-मरण के बीच में ही यह प्रतीत होता है । ऐसी स्थिति में आज जो कुछ भी भोग हो रहे हैं, वे आकस्मिक

हैं, पहले के किये हुये कर्म के नहीं क्योंकि जन्म से पहले स्थूल शरीररूप अन्नमयकोश था नहीं और मरण के बाद भी नहीं रहेगा । तब इस शरीर में किये हुए शुभ और अशुभ कर्मों के फल भोगे बिना ही नष्ट हो जायेंगे । इसीको अकृताभ्यागम और कृतविप्रनाश कहा गया है । अतः इन दोनों दोषों के कारण अन्नमयकोश स्थूलशरीर आत्मा नहीं है । किन्तु आत्मा इससे भिन्न है ॥२०॥

प्राणमयः कः ? प्राणादिपञ्चवायवो वागादीन्द्रियपञ्चकं च मिलित्वा प्राणमयः कोशः ।

प्राणमयकोश क्या है ? प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान; ये पञ्च प्राण और वागादि पञ्चकर्मेन्द्रियाँ इन दोनों को मिलाकर प्राणमयकोश कहा गया है ॥११॥

क्रियाशक्ति - प्रधान प्राणमयकोश है । वागादि पञ्चकर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों के रजो अंश से हुई है, जिसकी चर्चा मूलग्रन्थ में स्वयं ग्रन्थकार करेंगे । इन्हीं अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों के मिले हुए रजो अंश से प्राण की उत्पत्ति हुई है जो शरीर के भीतर पाँच भागों में विभक्त हो दिन-रात क्रियाशील है । उपनिषदों में प्राण उपासना की बहुधा चर्चा की गयी है । शरीर के यन्त्रों में प्राण को ज्येष्ठ और श्रेष्ठ कहा गया है । प्राण के बिना मातृगर्भ में भ्रूण सड़ जायेगा, बढ़ नहीं सकता । इसीलिये प्राण प्रारम्भ से ही काम करता है । अन्य इन्द्रियाँ गोलक के बन जाने पर अपना व्यापार करती हैं । इसीलिये प्राण ज्येष्ठ है । बाह्य एवं आभ्यन्तर इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों में आसक्त हो जाती हैं । साथ ही श्रान्त होकर विश्राम लेती हैं, किन्तु प्राण न किसी

विषय में आसक्त होता है और न विश्राम लेता है। इन्हीं विशिष्ट गुणों के कारण प्राण को श्रेष्ठ कहा जाता है। यह प्राण नाभि स्थान से ऊपर की ओर मुख नासिका द्वारा कुछ सीमा तक बाहर जाता है, पुनः भीतर लौटता है। इस प्रकार दिन-रात २१,६०० श्वास-प्रश्वास क्रिया के करने से इसका नाम प्राण पड़ गया है। नाभि स्थान में रहकर नीचे की ओर गतिशील हो मलमूत्र को अधोनयन के कारण अपान नाम से कहा जाता है। उदर में रहकर खाए-पिए अन्नादि के रस को समीकरण करता है और यथायोग्य नाड़ियों में विभक्त कर डालता है। इस प्रकार व्यापार करने वाले वायु को समान नाम से कहते हैं। कण्ठ स्थान में रहकर खाए-पिए अन्नादि को यथास्थान में विभक्त करता है और अन्त में उत्क्रमण करने के कारण ऐसे व्यापार करने वाले वायु को उदान कहते हैं। सम्पूर्ण शरीरों में व्याप्त होकर अङ्गों को फेरता है, शरीर और शरीरावयव में बल देता है। ऐसे व्यापार करने वाले वायु को व्यान कहते हैं। इस प्रकार अपञ्चीकृत-पञ्चमहाभूतों के मिले हुए रजो अंश से उत्पन्न शरीर अन्तः-सञ्चारी वायु व्यापार भेद से पाँच नामों ने व्यवहृत होता है। यह प्राणमय कोश आत्मा नहीं हो सकता क्योंकि यह जड़ है; चैतन्य नहीं। सोये हुए व्यक्ति के शरीर में भी प्राण सदा काम करता हुआ जगा रहता है किन्तु उस सुषुप्त पुरुष के समीप से कोई व्यक्ति कुछ उठा ले जाये तो उसका कुछ भी ज्ञान इस प्राण को नहीं होता। यह प्राणमय कोश वर्तमान देह से पहले भी था और इसके बाद भी रहेगा। इसलिये प्राणमय कोश को आत्मा मानने पर जो अकृताभ्यागम और कृतविप्रनाश दोष दिया गया था, वह प्राणमय कोश को

आत्मा मानने पर नहीं है। किन्तु जड़ होने के कारण इसे आत्मा मानना ठीक नहीं है। अतः प्राणमय कोश से भी आत्मा भिन्न है ॥२१॥

मनोमयः कः ? मनश्च ज्ञानेन्द्रियपञ्चकं च मिलित्वा मनोमयः कोशः ।

मनोमय कोश क्या है ? पञ्च ज्ञानेन्द्रियों के सहित संकल्प-विकल्पात्मक व्यापार करने वाला अन्तःकरण मनोमय कोश के नाम से कहा गया है, अर्थात् मन और ज्ञानेन्द्रिय पञ्चक दोनों मिलकर मनोमय कोश कहे जाते हैं ॥२२॥

पूर्वोक्त अन्नमय तथा प्राणमय कोश को आत्मा मानने में जो दोष बतलाए गये थे, वे दोष मनोमय कोश को आत्मा मानने में नहीं है किन्तु मन विकारी है; आत्मा निर्विकार है। मनोवृत्ति जाग्रत्, स्वप्न में काम करती है किन्तु सुषुप्ति में अपने व्यापार से उपरत हो लीन हो जाती है। अतः मनोमय कोश आत्मा नहीं हो सकता। आत्मा सदा विद्यमान एवं चैतन्य है ॥२२॥

विज्ञानमयः कः ? बुद्धिर्ज्ञानेन्द्रियपञ्चकं च मिलित्वा विज्ञानमयः कोशः ।

विज्ञानमय कोश क्या है ? अन्तःकरण की निश्चयात्मिका वृत्ति बुद्धि और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, दोनों मिलकर जो बनता है, वह विज्ञानमय कोश है ॥२३॥

मनोमय कोश की भाँति विज्ञानमय कोश भी जाग्रत्, स्वप्न में व्यापारशील हो भासता है किन्तु सुषुप्त में इसका अस्तित्व

नहीं भासता । इसके विपरीत आत्मा की सत्ता नित्य मानी गयी है। इसीलिये विज्ञानमय कोश को आत्मा मानना ठीक नहीं किन्तु विज्ञानमय कोश से भी आत्मा भिन्न है ॥२३॥

आनन्दमयः कोशः कः ? प्रियमोदादिवृत्तिमत् स्वस्वरूपाज्ञानं यदस्ति तदानन्दमयः कोशः । एतत्कोशपञ्चकं च मदीयं शरीरं, मदीयाः प्राणाः, मदीयं मनो मदीया बुद्धिर्मदीयमज्ञानमिति मदीयत्वेनैव ज्ञायते । तद्यथा मदीयत्वेन ज्ञातं कुण्डलकटकगृहादिकं स्वस्माद्भिन्नं, तथा मदीयत्वेन ज्ञातमात्मा न भवति ।

आनन्दमय कोश क्या है ? ऐसे ही कारणशरीरभूत अविद्या में स्थित मलिन सत्त्व—प्रिय, मोद तथा प्रमोद वृत्ति सहित को आनन्दमय कोश कहते हैं। इन पञ्चकोशों में अन्नमय कोश स्थूल शरीर मेरा है, प्राण मेरे हैं, मन मेरा है, बुद्धि मेरी है और अज्ञान मेरा है—इस प्रकार आत्मीय रूप से जाने जाते हैं। जैसे कटक, कुण्डलादि मेरे हैं, इस प्रकार जानने से मुझसे भिन्न सिद्ध हो जाते हैं; वैसे ही पञ्चकोश मेरे हैं, इस रूप में जानने पर पञ्चकोश भिन्न है और आत्मा भिन्न है ऐसा सिद्ध हो जाता है। अतः आत्मा पञ्चकोशातीत है ॥२४॥

इष्ट वस्तु का नाम सुनते ही अन्तःकरण में प्रिय वृत्ति उत्पन्न होती है; उसकी प्राप्ति की लालसा उत्पन्न होती है और इष्ट वस्तु के मिल जाने पर पहले की अपेक्षा कुछ गहरी मोद वृत्ति उत्पन्न होती है। फिर उस प्राप्त इष्ट वस्तु को भोगने

के लिये उत्कट अभिलाषा उत्पन्न होती है। और भोग काल में क्षणिक शान्ति रूप प्रमोद वृत्ति उत्पन्न होती है। इन्हीं को आनन्दमय कोश कहते हैं । जैसे आकाश में बादल उत्पन्न होता है और नष्ट हो जाता है, स्थिर नहीं रहता है; वैसे ही जाग्रत् स्वप्न में उत्पन्न हो-होकर नष्ट होता रहता है, स्थिर नहीं रहता है। सुषुप्तावस्था में कुछ क्षण यह स्थायी प्रतीत होता है किन्तु निद्रा भंग होते ही वह सौषुप्त सुख नहीं रह जाता। यह जीव पुनः अपने को दुःख और द्वन्द्व से घिरा हुआ देखने लग जाता है। अतः सदा न रहने वाला यह आनन्दमय कोश आत्मा नहीं है किन्तु आनन्दमय कोश का आधारभूत स्थायी आनन्द ही आत्मा है, जो आनन्दमय कोश से भी भिन्न है ॥२४॥

तर्ह्यात्मा कः ? सच्चिदानन्दस्वरूपः ।

आत्मा क्या है । सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा है ॥२५॥

सत् किम् ? कालत्रयेऽपि यत्तिष्ठति तत्सत् । चित् किम् ? साधनान्तरनैरपेक्ष्येण स्वयंप्रकाशमानतयेतरपदार्थावभासकं यत् तच्चित् । आनन्दः कः ? सुखस्वरूपः । एवं सच्चिदानन्दस्वरूपं स्वात्मानं विजानीयात् ।

सत् क्या है ? तीनों काल में जो रहता हो, वह सत् है। चित् क्या है ? ज्ञान स्वरूप चित् है। आनन्द क्या है ? सुखस्वरूप आनन्द है। इस प्रकार सच्चिदानन्द स्वरूप अपने आत्मा को जाने ।२६॥

भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान काल में भी जिसका बाध न हो, वह पारमार्थिक सत् है। वेदान्त सिद्धान्त में तीन प्रकार की सत्ता मानी गयी है। पारमार्थिक सत्ता, व्यावहारिक सत्ता तथा प्रातिभासिक सत्ता। ब्रह्म की पारमार्थिक सत्ता है क्योंकि संसार दशा में सभी वस्तुओं में अनुगत होकर अस्ति रूप से ब्रह्म ही भासता है। 'घट है, पट है' इस प्रकार घट-पट में अस्ति रूप से ब्रह्म ही प्रतीत होता है और ब्रह्मज्ञान से नामरूप में मिथ्यात्व निश्चय हो जाने पर 'मैं ब्रह्म हूँ', इस प्रकार ज्ञान होने पर भी ब्रह्म का अस्तित्व भासता है। अतः ब्रह्म की पारमार्थिक सत्ता है। माया, माया के कार्य भूत-भौतिक पिण्ड ब्रह्माण्ड तथा मायाप्रयुक्त जीव-ईश आदि की व्यावहारिक सत्ता है। जो ब्रह्मज्ञान से पूर्व व्यवहार दशा में सत् भासता हो और ब्रह्मज्ञान से उनमें मिथ्यात्व निश्चय हो जाने पर बाधित हो जाता हो, ऐसे माथादि में व्यावहारिक सत्ता मानी गयी है। प्रतीति काल में भासनेवाली रज्जु-सर्प आदि की प्रातिभासिक सत्ता मानी गयी है। यहाँ पर आत्मा की पारमार्थिक सत्ता होने के कारण उसे सत् कहा गया है।

ज्ञान दो प्रकार का है। एक स्वरूपज्ञान और दूसरा अन्तःकरण की वृत्ति में प्रतिबिम्बित घटादि विषयों का प्रकाशक विशेषज्ञान। सामान्यज्ञान सत् के समान सभी नामरूप में अनुगत है। वह अज्ञात वस्तु को भी प्रकाशता रहता है। घटादि विषय में जो ज्ञातता आती है, वह घटाकार वृत्ति में प्रतिबिम्बित विशेष चैतन्य को लेकर आती है। यह विशेष ज्ञान वृत्तिरूप होने के कारण उत्पत्ति-विनाशशील है। विशेष ज्ञान आत्मा का स्वरूप नहीं है किन्तु सभी नामरूप में अनुगत सामान्य ज्ञान को ही आत्मा का चिद्रूप माना गया है।

सुख भी दो प्रकार का है। एक स्वरूप सुख और दूसरा वैषयिक सुख। वैषयिक सुख विषय एवं अन्तःकरण की वृत्ति के सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाला प्रिय, मोद और प्रमोद नाम से कहा गया है, जो सदा स्थिर नहीं रहता किन्तु आत्मा के स्वरूप सुख नित्य स्थिर है। इसीलिए आत्मा को परम प्रेमास्पद कहा गया है। अन्य वस्तुओं में प्रेम अपने सुख के लिए होता है, किन्तु आत्मा में प्रेम स्वभाव से है। सुख और सुख के साधन, दुःख और दुःख निवृत्ति के उपाय की इच्छा सभी को हुआ करती है। आत्मा दुःख निवृत्ति तथा सुख स्वरूप है। इसीलिए उसमें स्वभाव से सबको प्रेम है। यहाँ पर निरुपाधिक प्रेम के विषय स्वरूप सुख होने से ही आत्मा को आनन्दरूप कहा गया है। इस प्रकार सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा का अपरोक्ष अनुभव ही मोक्ष का अन्तरंग साधन है ॥२६॥

अथ चतुर्विंशतितत्त्वोत्पत्तिप्रकारम् ।

अब २४ तत्त्वों की उत्पत्ति का प्रकार हम कहेंगे ॥२७॥

पञ्च महाभूत; पञ्च कर्मेन्द्रियाँ; पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ; पञ्च प्राण तथा अन्तःकरणचतुष्टय ये २४ तत्त्व हैं। इनकी उत्पत्ति प्रकार मूल ग्रन्थ में ही बतलाया गया है। केवल पञ्च प्राण के सम्बन्ध में संक्षिप्त वर्णन है। जिसका विवेचन प्राणमय कोश के विवरण काल में कर आये हैं ॥२७॥

ब्रह्मणस्तमोगुणप्रधानमायोपहितादाकाशः सम्भूतः आकाशाद्वायुर्वायोस्तेजस्तेजस आपोऽद्भ्यः पृथिवी ।

ब्रह्म के आश्रित सत्त्व, रज तथा तमोगुणात्मिका माया है। उस मायोपहित ब्रह्म से आकाश उत्पन्न हुआ। आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी उत्पन्न हुई ॥२८॥

ब्रह्म के आश्रित माया के कार्य माया के समान सत्ता वाले होने के कारण माया के परिणाम हैं। और ब्रह्म से विषम सत्ता वाला होने के कारण ब्रह्म के विवर्त हैं। कारण के समान सत्ता वाले कार्य को परिणाम कहते हैं। और कारण के विषम सत्ता वाले कार्यों को विवर्त कहते हैं। यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्माश्रित माया का परिणाम है और ब्रह्म का विवर्त है ॥१८॥

तेषां पञ्चतत्त्वानां मध्य आकाशस्य सात्त्विकांशाच्छ्रोत्रेन्द्रियं सम्भूतम् । वायोः सात्त्विकांशात् त्वगिन्द्रियं सम्भूतम् । अग्नेः सात्त्विकांशाच्चक्षुरिन्द्रियं सम्भूतम् । जलस्य सात्त्विकांशाद्रसनेन्द्रियं सम्भूतम् । पृथिव्याः सात्त्विकांशात्घ्राणेन्द्रियं सम्भूतम् । एतेषां पञ्चतत्त्वानां समष्टिसात्त्विकांशादन्तःकरणं सम्भूतम्, तच्च वृत्तिभेदान्मनोबुद्ध्यहङ्कारचित्तानीति चतुर्धा ।

इन पांच तत्त्वों में से आकाश के सात्त्विक अंश से श्रोत्र उत्पन्न हुआ। वायु के सात्त्विक अंश से त्वगिन्द्रिय उत्पन्न हुई। अग्नि के सात्त्विक अंश से चक्षुरिन्द्रिय उत्पन्न हुई, जल के सात्त्विक अंश से रसनेन्द्रिय उत्पन्न हुई। और पृथ्वी के सात्त्विक अंश से घ्राणेन्द्रिय उत्पन्न हुई।

इन अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों के समष्टि सात्त्विक अंश से मन, बुद्धि, अहंकार तथा चित्तरूप चतुर्विधव्यापार वाला अन्तःकरण उत्पन्न हुआ ॥२९॥

इनमें संकल्प-विकल्पात्मक व्यापार के समय अन्तःकरण

का नाम मन; निश्चयात्मिका वृत्ति का नाम बुद्धि; अभिमान करने वाली वृत्ति का नाम अहंकार; चिन्तन करने वाली वृत्ति का नाम चित्त है। मन का देवता चन्द्रमा, बुद्धि का देवता ब्रह्मा, अहंकार का देवता रुद्र और चित्त का देवता वासुदेव है ॥२९॥

इन्द्रियाँ	विषय	देवता
मन	संकल्प-विकल्प	चन्द्रमा
बुद्धि	निश्चय	ब्रह्मा
चित्त	स्मरण	वासुदेव
अहंकार	अभिमान	रुद्र

एतेषां पञ्चतत्त्वानां मध्य आकाशस्य राजसांशाद्वागिन्द्रियं सम्भूतं, वायो राजसांशात् पाणीन्द्रियं सम्भूतं, वह्नेः राजसांशात्पादेन्द्रियं सम्भूतं, जलस्य राजसांशात् उपस्थेन्द्रियं सम्भूतं, पृथिवीराजसांशात्पायविन्द्रियं सम्भूतम् ।

इन पञ्च तत्त्वों में से आकाश के रजो अंश से वाक् इन्द्रिय उत्पन्न हुई; वायु के रजो अंश से हस्त इन्द्रिय उत्पन्न हुई, अग्नि के रजो अंश से पाद इन्द्रिय उत्पन्न हुई; जल के रजो अंश से उपस्थ इन्द्रिय उत्पन्न हुई और पृथ्वी के रजो अंश से गुदा इन्द्रिय उत्पन्न हुई ॥३०॥

एतेषां पञ्चतत्त्वानां समष्टिराजसांशात् प्राणपञ्चकं सम्भूतम् ।

इन अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों के समष्टि रजो अंश से पञ्च प्राण उत्पन्न हुए हैं ।।३१।।

प्राण	व्यापार	स्थान
प्राण	श्वास, उच्छ्वास,	हृदय,
अपान	मलमूत्रादि अधोनयन	नाभि के अधोभाग,
समान	खाए-पिए अन्नादि को समीकरण	उदर (नाभि),
व्यान	अङ्ग को फेरना तथा बल देना	समस्त शरीर,
उदान	अन्नादि का अधोनयन	कण्ठ,

एतेषां पञ्चतत्त्वानां तमोगुणप्रधानानां पञ्चीकरणेन पञ्चमहाभूतानि भवन्ति ।

पञ्चीकरणं कथम् ? एतेषु भूतेष्वेकमेकं भूतं द्विधा समं विभज्यैकमेकमर्द्धं तूष्णीं व्यवस्थाप्यापरमपरमर्द्धं चतुर्द्धा समं विभज्य स्वार्द्धभिन्नेष्वर्द्धेषु स्वभागचतुष्टयसंयोजनं पञ्चीकरणं भवति । एतेभ्यः पञ्चीकृतपञ्चमहाभूतेभ्यश्चतुर्विधस्थूलशरीरं, ब्रह्माण्डं, ब्रह्माण्डमध्ये चतुर्दशभुवनानि सम्भूतानि ।

इन्हीं पञ्चभूतों के तमो अंश से पञ्चीकृत पञ्चमहाभूत बनते हैं। यदि कहो पञ्चीकरण किस प्रकार होते हैं ? इन अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों के तामस अंश स्वरूप एक-एक

भूत के दो-दो विभाग कर एक-एक अर्धभाग को पृथक् सुरक्षित रखकर दूसरे-दूसरे आधे भाग को चार भागों में विभक्त कर अपने से भिन्न अर्ध भागों में अपने चार भागों को मिला दें तो पञ्चकरण हो जाता है। इन्हीं पञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों से स्थूल शरीर बनता है। इस प्रकार पिण्ड और ब्रह्माण्ड का भेद प्रभेद उत्पन्न होता है ।।३२।।

मायाविशिष्ट ब्रह्मचैतन्य से क्रमशः आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी ये पञ्चमहाभूत उत्पन्न हुए, जो पहले अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूतरूप थे। स्थूलसृष्टि निर्माण के लिये परमेश्वर के सङ्कल्प से इन पञ्चमहाभूतों का पञ्चीकरण होता है। पञ्चीकरण की प्रक्रिया इस प्रकार की है। जैसे कोई पाँच मित्र एक स्थान में एकत्रित हुए। उनमें से किसी के पास केला, किसी के पास सेव, किसी के पास नारङ्गी, किसीके पास अमरूद तथा किसी के पास आम फल था। खाने से पहले सभी ने अपने-अपने फल के दो-दो टुकड़े किये। उनमें से एक हिस्सा अपने लिये सुरक्षित रखा और दूसरे हिस्से के चार भाग करके अपने चार मित्रों को एक-एक भाग दे दिया। फलतः उन पाँचों मित्रों के पास आधा-आधा भाग अपने फल का रहा और आधा-आधा भाग अन्य चारों मित्रों से सभी को प्राप्त हुआ। इसी प्रकार ईश्वर के संकल्प से आकाश, वायु, अग्नि, जल एवं पृथ्वी इन अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों के दो-दो भाग हो गये, जिनमें से सभी के लिए एक-एक भाग सुरक्षित रहा और दूसरे भाग के पुनः चार हिस्से करके अन्यान्य चार भूतों में विभक्त कर दिये गये। जिसका परिणाम यह हुआ कि सभी भूतों में आधा (१/२) भाग अपना है और अष्टमांश (१/८) अन्य चारों भूतों के हैं। फिर भी

अपना भाग अधिक रहने के कारण उसी नाम से उसका व्यवहार होता है। इसीलिये भगवान् वेदव्यास ने ब्रह्मसूत्र में कहा है "वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः" (ब्र० २।४।२२)। अर्थात् जिस भूत में अपना भाग अधिक है, उसे उस नाम से व्यवहार करते हैं। उक्त रीति से पञ्चभूतों के पञ्चीकरण हो जाने पर स्थूल पिण्ड ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति होती है ॥३२॥

स्थूलशरीराभिमानि जीवनामकं ब्रह्मप्रतिबिम्बं भवति। स एव जीव आत्मन्येव प्रकृत्या जीवेश्वर-भेददृष्टिं कल्पयति।
कथमिति चेत्। अविद्योपाधिः सन्नात्मा जीव इत्युच्यते।

स्थूल शरीर में अभिमान करने वाले ब्रह्म प्रतिबिम्ब को जीव नाम से कहते हैं। वही जीव अविद्या के कारण अपने से भिन्न रूप में ईश्वर को जानता है। अविद्या उपाधि वाला आत्मा जीव नाम से कहा जाता है ॥३३॥

मायोपाधिः सन्नात्मा ईश्वर इत्युच्यते। एवमुपाधिभेदाज्जीवेश्वरभेददृष्टिर्यावत्पर्यन्तं तिष्ठति तावत्पर्यन्तं जन्ममरणादिरूपसंसारो न निवर्तते। तस्मात् कारणाज्जीव एव ईश्वर ईश्वर एव जीव इतीतराभेददृष्टिं जानीयात्।

माया उपाधि वाले चेतन को ईश्वर कहा गया है। इस प्रकार उपाधिभेद से जीव ईश्वर भेद दृष्टि जब तक रहती है

तब तक जन्ममरणादिरूप संसार निवृत्त नहीं होता। इसीलिये जीव-ईश्वर में अभेद दृष्टि करनी चाहिए ॥३४॥

घट-पटादि उपाधि से निरवच्छिन्न महाकाश की भाँति निरुपाधिक ब्रह्म चैतन्य एक ही है। वह ब्रह्म चैतन्य अविद्या रूप उपाधि से युक्त होने के कारण जीव कहलाता है और माया उपाधि से युक्त होने पर ईश्वर कहलाता है। पहले कही गयी ब्रह्म के आश्रित रहने वाली माया के ही ये दो भेद हो गये हैं। मलिन सत्त्व प्रधान को 'अविद्या' और शुद्ध सत्त्व प्रधान को 'माया' नाम से कहा जाता है। अविद्या में भी सत्त्व अंश तो है किन्तु वह सत्त्व अंश रजोगुण तथा तमोगुण से दबता रहता है। इन्हें सदा दबा नहीं पाता। इसीलिये अविद्या को मलिन सत्त्व माना गया है। माया में रहने वाला शुद्ध सत्त्व अंश है, जो कभी रजोगुण और तमोगुण से दबता नहीं, किन्तु सदा रजोगुण और तमोगुण को दबाए रखता है। इसीलिये माया को शुद्ध सत्त्व प्रधान माना गया है। मलिन सत्त्व प्रधान अविद्या उपाधि वाले जीव को अपने स्वरूपभूत ब्रह्म के दर्शन में आवरण होता रहता है। संशय तथा भ्रम ज्ञान भी उत्पन्न हो जाता है। इस आवरण, संशय तथा भ्रम की निवृत्ति के लिये शास्त्र उपदेश की आवश्यकता है। किन्तु विशुद्ध सत्त्व प्रधान मायारूप उपाधिवाले परमेश्वर को अपने स्वरूप का तथा समस्त विश्व का सदा साक्षात्कार ही रहता है। उसकी मायावृत्ति पर कभी भी आवरण, संशय या विभ्रम नहीं होता। इसीलिये परमेश्वर को शास्त्र उपदेश श्रवण की आवश्यकता नहीं है। ब्रह्म तत्त्व साक्षात्कार के बाद ब्रह्मज्ञानी के लिये भी जब शास्त्र अनुपयोगी हो जाता है; तो परमेश्वर के लिये भला शास्त्र का क्या उपयोग हो सकता है। गुरु, शिष्य तथा शास्त्र व्यवहार अविद्या अवस्था में ही है ॥३४॥

ननु साहङ्कारस्य किञ्चिज्ज्ञस्य जीवस्य निरहङ्कारस्य सर्वज्ञस्येश्वरस्य च कथमभेदबुद्धिः स्यादुभयोर्विरुद्धधर्माक्रान्तत्वादिति चेन्न । स्थूलसूक्ष्मशरीराभिमानी त्वम्पदवाच्योऽर्थः, उपाधिविनिर्मुक्तं समाधिदशासम्पन्नं शुद्धचैतन्यं च त्वंपदलक्ष्योऽर्थः । एवं सर्वज्ञत्वादिविशिष्ट ईश्वरस्तत्पदवाच्यः, उपाधिशून्यं शुद्धचैतन्यं च तत्पदलक्ष्यम् । एवं च लक्ष्यार्थमादाय जीवेश्वरयोरभेदे बाधकाभावः ।

अहंकारयुक्त अल्पज्ञ जीव तथा अहंकार रहित सर्वज्ञ ईश्वर का 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य से अभेदज्ञान कैसे हो सकेगा, क्योंकि ये जीव और ईश्वर दोनों विरुद्ध धर्म से अक्रान्त हैं ? ऐसा यदि कहो तो ठीक नहीं है क्योंकि स्थूल सूक्ष्म शरीर अभिमानी चेतन त्वंपद का वाच्यार्थ है और उधाधि से सर्वथा मुक्त समाधिदशासंपन्न शुद्ध चैतन्य त्वंपद का लक्ष्यार्थ है । इसी प्रकार सर्वज्ञत्वादि धर्म से विशिष्ट ईश्वर तत्पद का वाच्यार्थ है और उपाधिशून्य शुद्ध चैतन्य तत्पद का लक्ष्यार्थ है । इस प्रकार चैतन्यरूप से जीव और ईश्वर के अभेद मानने में बाधक नहीं है ॥३५॥

घटरूप उपाधि से अवच्छिन्न आकाश को घटाकाश कहते हैं और मठावच्छिन्न आकाश को मठाकाश कहते हैं । तथा दोनों उपाधि से रहित आकाश को महाकाश कहते हैं । घट और मठरूप उपाधि के रहते दुए भी उपाधि की ओर दृष्टि न करके केवल आकाश को देखें, तो घटाकाश और मठाकाश में कोई भेद नहीं है; अपितु दोनों एक ही हैं । घट और मठ दोनों को

तोड़ देने पर सामान्य बुद्धि वाले व्यक्ति को भी वहाँ भेद नहीं दीखता । वैसे ही जीव और ईश्वर की उपाधि अविद्या तथा माया के रहते हुए भी उपाधि की ओर न देख कर केवल चेतन दृष्टि से देखें तो दोनों में निःसन्देह अभेद ही दीखेगा । फिर भला दोनों उपाधियों के नष्ट हो जाने पर जीव-ईश में भेद कैसे रह सकेगा । महावाक्य द्वारा सोपाधिक जीव और ईश्वर का अभेद नहीं बतलाया जाता है किन्तु दोनों की उपाधियों को बाध करके अवशिष्ट चैतन्य को ही एक कहा जाता है । अतः तत्त्वंपद के वाच्यार्थ में ही भेद दीखता है, लक्ष्यार्थ में भेद नहीं है । तत्त्वमसि महावाक्य भागत्याग लक्षणाद्वारा तत्त्वंपदार्थ का अभेद निरूपण करता है; जो युक्ति युक्त है ॥३५॥

एवं वेदान्तवाक्यैः सद्गुरूपदेशेन सर्वेष्वपि भूतेषु येषां ब्रह्मबुद्धिरुत्पन्ना ते जीवन्मुक्ता इत्युच्यन्ते ।

इस प्रकार वेदान्त वाक्यों और सद्गुरु के उपदेश से सभी भूतों में जिनकी ब्रह्म बुद्धि उत्पन्न हो गई है; वे जीवन्मुक्त हैं । ऐसा अभिप्राय है ॥३६॥

श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्य द्वारा पूर्वोक्त साधनचतुष्टयसम्पन्न जिन अधिकारियों को वेदान्त के महावाक्य से "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" सम्पूर्ण विश्व ब्रह्म है; इस प्रकार दृढ़ अपरोक्ष ब्रह्मज्ञान हो गया है वे जीवन्मुक्त हैं । अविद्या तथा उसके कार्यरूप समस्त बन्धन से मुक्त हुए तत्त्वज्ञानी प्रारब्ध भोग नाश पर्यन्त जीवन्मुक्त कहे जाते हैं । जिनका विस्तृत विवेचन आगे मूल ग्रन्थ में करेंगे ॥३६॥

ननु जीवन्मुक्तः कः ? यथा देहोऽहं पुरुषोऽहं ब्राह्मणोऽहं क्षत्रियोऽहं वैश्योऽहं शूद्रोऽहमस्मीति

दृढनिश्चयस्तथा नाहं ब्राह्मणो न क्षत्रियो न वैश्यो न शूद्रो न पुरुषः किन्त्वसङ्गः सच्चिदानन्दस्वरूपः स्वप्रकाशरूपः सर्वान्तर्यामी चिदाकाशरूपोऽहमस्मीति दृढनिश्चयरूपापरोक्षज्ञानवान् ।

शङ्का—जीवन्मुक्त कौन है ? जैसे मैं देह हूँ; पुरुष हूँ, ब्राह्मण हूँ, क्षत्रिय हूँ, वैश्य हूँ और शूद्र हूँ; ऐसा दृढ निश्चय है। ठीक वैसे ही मैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नहीं हूँ, पुरुष नहीं हूँ किन्तु असङ्ग सच्चिदानन्दस्वरूप, प्रकाशरूप, सर्वान्तर्यामी, चिदाकाश स्वरूप हूँ; ऐसा दृढनिश्चयरूप अपरोक्ष ज्ञानवान् पुरुष जीवन्मुक्त कहा जाता है ॥३७।

ब्रह्म आत्मा के अपरोक्ष ज्ञान से अविद्या तथा उसके समस्त कार्य का नाश हो गया, फिर तो वह मुक्त कहा जायेगा। जीवन्मुक्त कैसे कहा जा सकता है ? ऐसी शङ्का ठीक नहीं। क्योंकि ब्रह्मविद्या से अज्ञान के आवरण अंश का नाश उसी क्षण हो जाता है किन्तु विक्षेप अंश प्रारब्ध क्षय की प्रतीक्षा करता है। अनादि अनिर्वचनीय अविद्या की आवरण और विक्षेप दो शक्तियाँ हैं। आवरण शक्ति के कारण ब्रह्म और आत्मा की एकता का भान नहीं होता और विक्षेप शक्ति 'मैं ब्रह्म हूँ' इस अनुभूति के स्थान पर 'मैं जीव हूँ' इत्यादि भ्रान्ति करा देती है। तत्त्वज्ञान होते ही आवरण अंश का नाश हो जाता है और विक्षेप अंश का बाध हो जाता है जो बाधित होता हुआ भी भासता रहता है किन्तु अनर्थ का कारण नहीं बनता, क्योंकि 'मैं सच्चिदानन्दघन ब्रह्म हूँ' ऐसा दृढ अपरोक्ष निश्चय उसका बना रहता है ऐसे तत्त्वज्ञानी को जीवन्मुक्त कहते हैं ॥३७॥

(ब्रह्मैवाहमस्मीत्यपरोक्षज्ञानेन निखिलकर्मबन्धविनिर्मुक्तो) जीवन्मुक्तः ।

कर्माणि कतिविधानि ? आगामिसञ्चितप्रारब्धभेदेन त्रिविधानि सन्ति ।

'मैं ब्रह्म ही हूँ' ऐसे अपरोक्षज्ञान द्वारा सम्पूर्ण कर्म बन्धनों से वह ज्ञानी सर्वथा मुक्त हो जाता है। कर्म कितने प्रकार के होते हैं ऐसा यदि पूछें, तो आगामी, सञ्चित और प्रारब्ध भेद से तीन प्रकार के कर्म होते हैं ॥३८॥

'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसे अपरोक्षज्ञान द्वारा सम्पूर्ण कर्म बन्धन से सर्वथा छूट जाने की बात कही है; इस बात को सुनते ही मन में आकाँक्षा उत्पन्न होती है कि कर्म कितने प्रकार के होते हैं जिसका विचार मूलग्रन्थ में ग्रन्थकार स्वयं करेंगे ॥३८॥

आगामि कर्म किम् ? ज्ञानोत्पत्यनन्तरं ज्ञानिदेहकृतं पुण्यपापरूपं कर्म यदस्ति तदागामि कर्मेत्यभिधीयते ।

ज्ञान उत्पत्ति के बाद ज्ञानी के शरीरादि से किये गये पुण्य पाप कर्म जो हैं; उसे आगामी कर्म कहते हैं ॥३९॥

सञ्चितं कर्म किम् ? अनन्तकोटिजन्मनां बीजभूतं सद्यत् कर्मजातं पूर्वोपार्जितं तिष्ठति तत् सञ्चितं ज्ञेयम् ।

सञ्चित कर्म क्या है ? अनन्त कोटि जन्म के बीजभूत होता हुआ पूर्व उपार्जित जो कर्म समुदाय है, उसे सञ्चित कर्म समझना चाहिये । ४०॥

वर्तमान देह से पूर्व मानव शरीर द्वारा जिन शुभाशुभ कर्मों का उपार्जन हुआ है एवं जो फल देने के लिये अभी उन्मुख नहीं हैं। ऐसे तरकस में रखे बाणों की भाँति अन्तः-करण में अदृष्ट रूप से सुषुप्त कर्मों को सञ्चित कर्म कहते हैं, जो देहान्तरीय भोग से अथवा तत्त्वज्ञान से नष्ट होता है। किन्तु ज्ञान उत्पत्ति के बाद ज्ञानी महापुरुष के शरीर-इन्द्रियों द्वारा जो कुछ भी ज्ञात अथवा अज्ञात पुण्य-पाप होते हैं उन्हें आगामी कर्म कहते हैं; जो ज्ञानी पुरुष के देहान्तर के आरम्भक नहीं होंगे किन्तु ज्ञानी के पुण्य कर्म के फलभागी उसके सेवक होते हैं और पाप कर्म के फलभागी उसके द्वेषी होते हैं ॥४०॥

प्रारब्धं कर्म किम् ? इदं शरीरमुत्पाद्येहलोक एव सुख-दुःखादिप्रदं यत्कर्म तत्प्रारब्धं भोगेन नष्टं भवति। प्रारब्धकर्मणां भोगादेव क्षय इति न्यायात्।

प्रारब्ध कर्म क्या है ? ऐसा यदि पूछो तो इस शरीर को उत्पन्न कर इस लोक में इस प्रकार सुख-दुःखादि भोग को देने वाले जो कर्म हैं; वे प्रारब्ध कर्म माने जाते हैं, जो भोग से ही नष्ट होते हैं। "प्रारब्ध कर्मों का नाश भोग से ही होता है" ऐसा शास्त्र वचन है ॥४१॥

इसलोक तथा परलोक में शरीर एवं भोग के आरम्भक कर्म को प्रारब्ध कर्म कहते हैं जिनका नाश एकमात्र भोग से ही होता है; अन्य उपाय से नहीं। इसी प्रारब्ध कर्म के फलस्वरूप तत्त्वज्ञानी का शरीर विद्यमान रहता है और उसे जीवन्मुक्त कहते हैं। तत्त्वज्ञानियों के प्रारब्ध कर्म भी विचित्र

होते हैं। एक जैसे नहीं होते। इसीलिये जनक तथा जड़भरत के जीवन में महान् अन्तर दिखायी पड़ता है ॥४१॥

सञ्चितं कर्म ब्रह्मैवाहमिति निश्चयात्मकज्ञानेन नश्यति। ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन इति भगवद्वचनात्। किञ्चागामिकर्मणो नलिनी-दलगतजलवत् ज्ञानिनां सम्बन्धो नास्ति।

'मैं ब्रह्म ही हूँ' ऐसे निश्चयात्मक ज्ञान द्वारा सञ्चित कर्म नष्ट हो जाते हैं। आगामी कर्म भी ज्ञान से नष्ट हो जाते हैं। कमलपत्र पर निर्लिप्त जल की भाँति ज्ञानियों का आगामी कर्म के साथ सम्बन्ध नहीं होता ॥४२॥

प्रारब्ध कर्म के अतिरिक्त अनन्त सञ्चित कर्मों का अपरोक्ष ब्रह्मात्मैक्य बोध से तत्क्षण नष्ट हो जाता है। दग्ध बीज की भाँति उन कर्मों में फल देने की शक्ति नहीं रह जाती किन्तु कर्तापने का अभिमान न रहने के कारण आगमी कर्म के साथ तत्त्ववेत्ता का सम्बन्ध नहीं होता है। वह तत्त्ववेत्ता पुरुष समस्त बाह्याभ्यन्तर कर्मों के लेप से सर्वथा वैसे ही रहित होता है जैसे कमल का पत्र जल के लेप से रहित होता है। आत्मा तथा अनात्मा का अन्योन्याध्यास जब तत्त्वज्ञान से नष्ट हो जाता है, तब उस ब्रह्मनिष्ठ के शरीर इन्द्रियों द्वारा जो कुछ भी कर्म होते हैं, वे लोककल्याण कारक ही होते हैं। कुछ आनुसंगिक निषिद्ध कर्म हो भी जाये तो उससे भी उस तत्त्ववेत्ता का कोई सम्बन्ध नहीं रहता है ॥४२॥

किञ्च ये ज्ञानिनं स्तुवन्ति भजन्त्यर्चयन्ति च तान् प्रति ज्ञानिकृतागामिपुण्यं गच्छति। ये च ज्ञानिनं

निन्दन्ति द्विषन्ति दुःखप्रदानं कुर्वन्ति तान्प्रति ज्ञानिकृतं सर्वमागामिक्रियमाणपदवाच्यं कर्म पापात्मकं गच्छति । तथा च श्रुतिः–"सुहृदः पुण्यकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्यां गृह्णन्तीति" । तथा चात्मवित् संसारं तीर्त्वा ब्रह्मानन्दमिहैव प्राप्नोति । तरति शोकमात्मविदित्यादिश्रुतेः । "तनुं त्यजतु वा काश्यां श्वपचस्य गृहेऽथवा । ज्ञानसम्प्राप्तिसमये मुक्तोऽसौ विगताशयः" ॥ इति स्मृतेश्च ।

इति श्रीतत्त्वबोधाख्यग्रन्थः समाप्तः

जो ज्ञानी की स्तुति करते है, सेवा करते हैं तथा पूजा करते हैं; ज्ञानियों का किया हुआ आगामी कर्म उन्हीं के पास ही जाता है और जो ज्ञानी की निन्दा करते हैं, द्वेष करते हैं तथा दुःख देते हैं, उनके प्रति ज्ञानियों का किया हुआ सम्पूर्ण अवाच्य पापरूप आगामी कर्म चला जाता है । "ज्ञानी के पुण्य कर्मों को सुहृद् ग्रहण करते हैं और पाप कर्मों को द्वेषी ग्रहण करते हैं" ऐसी ही श्रुति है । तथा "आत्मज्ञानी संसार को पार कर यहाँ पर ही ब्रह्मानन्द को प्राप्त कर लेता है", "आत्मज्ञानी शोक को पार कर जाता है" ऐसी श्रुति है । "ज्ञानी काशी में शरीर छोड़े अथवा चाण्डाल के घर में शरीर छोड़े; वह तो विशुद्ध आशय वाला तत्त्ववेत्ता ज्ञान संप्राप्ति काल में ही मुक्त हो चुका है" ऐसी स्मृति भी है ॥४३॥

किसी भी सज्जन की स्तुति, सेवा तथा पूजा से पूजक को पुण्य होता है और निन्दा, द्वेष तथा दुःख देने से पाप होता है;

फिर अन्य सामान्य व्यक्ति की अपेक्षा तत्त्वज्ञानी की स्तुति आदि का महान् फल क्यों बतलाया गया है ? इसमें दो कारण हो सकते हैं । एक तो ज्ञानी के द्वारा किये गये सुभाशुभ कर्म का उसके साथ लेप न होने के कारण उन कर्मों का फल ज्ञानी की स्तुति करने वालों तथा निन्दा करने वालों को मिलता है । ज्ञानी अपनी ओर से निन्दक तथा स्तावक के प्रति कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं करता किन्तु उसके द्वारा किये गये शुभाशुभ कर्मों का फल उन दोनों को मिलता ही है जैसा कि शास्त्रों में कहा गया है । दूसरा कारण यह भी हो सकता है, अग्नि की चिनगारी तथा महान् इन्धनादि से प्रदीप्त अग्नि दोनों में तेज का धर्म विद्यमान है फिर भी चिनगारी को दाहकता सह्य है किन्तु प्रदीप्त अग्नि की दाहकता असह्य होती है । वैसे ही जल का स्वाभाविक गुण शीतल है । वह चाहे एक बिन्दुरूप हो अथवा गंगाजल का प्रवाह हो फिर भी जलबिन्दु की शीतलता शीतकाल में भी उद्वेग को उत्पन्न नहीं करती पर गङ्गाप्रवाह गत शीतलता बाहर भीतर से ठण्डा कर डालती है क्योंकि उसमें शक्ति अधिक अभिव्यक्त है । ऐसे ही सामान्य सज्जन पुरुष की अपेक्षा ज्ञानी में परमेश्वर की दिव्य विभूतियों का अधिक आविर्भाव हो जाने के कारण उसकी स्तुति करने वालों को महत् पुण्य तथा निन्दा करने वालों को महत् पाप होता है । यह ज्ञानी को उनके प्रति प्रतिक्रिया नहीं है, किन्तु स्वाभाविक ज्ञान एवं तप का फल है । इन्हीं दो कारणों से ज्ञानियों की निन्दा-स्तुस्ति के फल को महान् कहा गया है ॥४३॥

इति महामण्डलेश्वर कैलासपीठाधीश्वर श्रीस्वामीविद्यानन्दगिरि–विरचितव्याख्यासमलङ्कृतः तत्त्वबोधः समाप्तः ।